ध्यान-साधना : जैन दृष्टिकोण

(डॉ. श्री नरेन्द्र भानावत)

''जिन'' का अनुयायी जैन कहा जाता है। ''जिन'' वह है, जिसने राग-द्वेष रूप, शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल को आत्मसात् कर लिया है। ''जिन'' किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर उस आध्यात्मिक अवस्था की, अनुभूति है, जिसमें अक्षय, अव्याबाध आनन्द की सतत स्थिति बनी रहती है। इसे सिद्ध, मुक्त, परमात्म अवस्था भी कहा जाता है। प्रत्येक प्राणी में इस अवस्था को प्राप्त करने की क्षमता और शक्ति निहित है। दूसरे शब्दों में आत्मा ही परमात्मा होता है और प्रत्येक आत्मा में परमात्मा स्थिति तक पहुँचने की योग्यता है। इस दृष्टि से जैन परम्परा में ईश्वर या परमात्मा एक नहीं, अनेक हैं। सभी स्वतंत्र हैं, उनका सुख ''पर'' पर आश्रित नहीं, वे स्वाश्रित और स्वाधीन हैं। सब में गुण-धर्म की समानता है। अन्य के कारण किसी प्राणी को सुख-दुःख नहीं मिलता। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख का कारण वह स्वयं है। अपने सत् कर्मों के कारण वह सुख पाता है और दुष्कर्मों के कारण दुःख पाता है। राग और द्वेष कर्म-बीज हैं, जिनके कारण जीव की स्वाभाविक आत्मशक्तियाँ सुषुप्त पड़ी रहती हैं और उन पर कई प्रकार की परतें छायी रहती हैं, उसी प्रकार आत्म गुण-रत्न नानाप्रकार की दोष व विकाररूपी पर्तों से आवृत्त-आच्छादित बने रहते हैं। इन विकारों की पर्तों को छेदकर-भेदकर आत्म-शक्तियों का विकास किया जा सकता है, गुण-रत्नों को चमकाया जा सकता है। विकारों पर विजय प्राप्त करने की, गुण-रत्नों को चमकाने की साधना के कई रूप हैं, उनमें ध्यान-साधना का प्रमुख स्थान है।

मूल आगमों में ''जैन'' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वहाँ अर्हत्, अरिहन्त, निर्ग्रन्थ और श्रमण धर्म का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। ''अर्हत्'' का अर्थ है - जिसने अपनी सम्पूर्ण योग्यताओं का विकास कर लिया है। जिसने राग-द्वेष रूपी अरि अर्थात् शत्रुओं का अन्तकर दिया है, वह अरिहन्त है। ''निर्ग्रन्थ'' वह, जिसने समस्त दोषों, पापों और विकारों की गांठों का छेदन-भेदन कर दिया है। ''श्रमण'' वह है, जिसके सारे पाप-दोष शमित हो गये हैं, प्राणी मात्र के प्रति जिसके मन में समता, मैत्री और प्रेम का भाव है, जो अपने सुख के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं, स्वयं के श्रम, पुरुषार्थ और पराक्रम से जिसने उसे प्राप्त किया है। इस प्रकार अर्हत्, निर्ग्रन्थ और शम-सम-श्रम की साधना के पथ पर चलने वाला साधक जैन है।

जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा, अपनी विशुद्धतम स्थिति में परमात्मा है। पर आत्मा के साथ मन और इन्द्रियों का संयोग होने से वह-शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों में प्रवृत्ति करती रहती है। अनुकूल-के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष-भावों में उलझी रहती है। इस कारण नानाविध विकारों, दोषों और पापों से उसकी शुद्धता-निर्मलता प्रदूषित होती रहती है। इस प्रदूषण के कारण उसकी तेजस्विता धूमिल और मन्द पड़ जाती है। जैन दार्शनिकों ने इस प्रक्रिया को संवर और निर्जरा कहा है। ध्यान-साधना प्रकारान्तर से संवर और निर्जरा की साधना है।

जैनेतर दर्शनों में परमात्म-शक्ति से साक्षात्कार करने की साधना को योग कहा गया है। वहाँ योग का अर्थ है - जोड़, आत्मा का परमात्मा से जुड़ना, मिलना। पर जैन परम्परा में योग शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। यहाँ आत्मा-परमात्मा से मिलती नहीं वरन् कर्म के आवरणों को भेदकर, समस्त कर्म-राज को हटाकर विशुद्ध और निर्मल होकर स्वयं परमात्मा बनजाती है। आत्मा के इस परमात्मीकरण में मन, वचन और काया की कषाय युक्त प्रवृत्तियाँ बाधक हैं। इन प्रवृत्तियों को जैन दार्शनिकों ने ''योग'' कहा है। यहाँ भी योग का अर्थ जुड़ना है पर परमात्मा से नहीं वरन् सांसारिक विषयों से। जब साधक मन, वचन व काया के योग को सांसारिक विषयों के योग से हटाता है, अलग करता है, तब वह अपनी परमात्माशक्ति से जुड़ पाता है। स्वयं परमात्ममय हो जाता है। इस अर्थ में जैन अयोग जैनेतर दर्शनों का योग है। यहाँ का अयोगी जैनेतर दर्शनों का परमयोगी है।

जैन परम्परा में ध्यान आभ्यन्तर तप का एक प्रकार है। इसके द्वारा कर्म-विकारों को दग्ध किया जाता है, नष्ट किया जाता है। पर इस स्थिति तक पहुँचना सहज-सरल नहीं है। इसके लिए सम्यक् दृष्टि और सम्यक् बोध की आवश्यकता है। स्थानांग, भगवती सूत्र, उववाई आदि जैन आगमों में ध्यान का उल्लेख और विवेचन आया है। वहाँ ध्यान के चार प्रकारों में आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान को त्याज्य तथा धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान को ग्राह्य बताया है। आर्त्त व रौद्र ध्यान व्यक्ति की राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के सूचक हैं। इनसे व्यक्ति व्याकुल, अशान्त, व्यग्र, दुःखी, क्रूर, हिंसक, ईर्ष्यालु, दंभी, लोभी, मायावी और परपीड़क बनता है। आर्त्त और रौद्र ध्यान की दुष्प्रवृत्तियों को छोड़े बिना व्यक्ति धर्म-ध्यान की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग साधना में ध्यान को सातवां योग बताया है तो भगवान महावीर ने द्वादशांग तप-साधना में ध्यान को ग्यारहवाँ स्थान दिया है। पतंजलि के अनुसार ध्यान-साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह यम-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार - इन्द्रियों को अपने-२ विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना और धारणा - चित्त को किसी ध्येय में स्थिर करने - का पालन करे। महावीर के अनुसार

बिना इष्ट मिलता नहीं, जग में दिव्य प्रकाश।
जयन्तसेन रखो हृदय, परमेष्ठी अधिवास ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी यह आवश्यक है कि तपरूप ध्यान-स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक अनशन आदि छः बाह्य तप करता हुआ दोषों की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय रूप अन्तरंग तप-साधना करे । जब तक यह भूमिका नहीं बनती, सच्ची ध्यान साधना संभव नहीं ।

आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान के त्याग तथा धर्म ध्यान की धारणा के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है -

१. सम्यक्त्व-बोध २. व्रत-ग्रहण ३. प्रतिक्रमण ४. स्व-संवेदन

(१) सम्यक्त्व-बोध - जब तक व्यक्ति इन्द्रिय स्तर पर जीता है, वह अनिष्ट के संयोग एवं इष्ट के वियोग पर दुःखी बेचैन और व्याकुल होता रहता है । इन्द्रिय-जन्य भोग की लालसा उसे चंचल बनाये रखती है । इस लालसा की पूर्ति कभी होती नहीं, वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । इसकी पूर्ति न होने पर व्यक्ति क्रंदन, रुदन, शोक, संतापरूप, नानाविध दुःखों में डूबा रहता है । शरीर से परे वह कुछ सोच नहीं पाता । शरीर-संबंधों को ही वास्तविक संबंध मानकर उन्हें निभाने में ही वह अपने पूरे जीवन को खो देता है । उसके सारे क्रियाकलाप देह-संबंधी भोगों के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते हैं । यह देह दृष्टि उसे कभी आत्मबोध नहीं होने देती । जब इन्द्रिय-भोगों के प्रति उसमें विरक्ति का भाव अंकुरित होने लगता है और अनुभूति के स्तर पर वह इन्हें नश्वर, नीरस और निरर्थक समझने लगता है तब कहीं उसका सम्यक्त्वबोध जाग्रत होपाता है । इस बोध के जाग्रत होने पर वह दुःख के कारणों से बचने का प्रयत्न करता है । धीरे-२ उसके विचारों मेंयह पैठने लगता है कि सच्चा सुख कामना-पूर्ति में नहीं । अतः इसके लिए क्यों हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और आसक्ति-संग्रह रूप पाप का व्यवहार किया जाय, दूसरों को कष्ट दिया जाय, दूसरों का हक छीना जाय । यह बोध उसे अंधकार से प्रकाश की ओर, जड़ता से चेतना की ओर, उच्छृंखल भोगवृत्ति से मर्यादित जीवन की ओर ले जाता है ।

२. व्रत-ग्रहण - सम्यक्त्व बोध द्वारा जब अन्दर की जड़ता महसूस होती है तब उसे दूर करने के लिए पुरुषार्थ करने का भाव जाग्रत होता है । यह पुरुषार्थ भाव उसे विरति की ओर ले जाता है । इसमें अपनी शक्ति और संकल्प के अनुसार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से बचने के लिए व्रत-ग्रहण का भाव पैदा होता है । अपने द्वारा दूसरों को दुःख देने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती है और ज्यों - २ व्रत-निष्ठा मजबूत होती है त्यों - २ यह भावना जाग्रत होती है कि दूसरों के दुःख को दूर करने में अपनी वृत्तियों का संकोच करना पड़े, तो क्या किया जाय । वृत्तियों के संकोच से इन्द्रिय-भोगों पर नियंत्रण होने के साथ ही निष्प्रयोजन हिंसक वृत्ति से बचाव होता है और दैनिकचर्या मर्यादित-संयमित बनती है । इससे समता का भाव पुष्ट होता है और आत्म-गुणों का पोषण होता है । पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत-रूप श्रावक के बारह व्रतों का विधान इसी भावना से किया गया प्रतीत होता है । इसमें श्रावक को, साधक को अपनी शक्ति और साधना - पथ पर बढ़ने की मानसिक तैयारी के अनुसार व्रत-नियम ग्रहण करने की व्यवस्था है ।

राजस्थान विश्वविद्यालयसे 'राजस्थानी वेलि साहित्य' पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त की । लगभग ५० पुस्तकों तथा १०० से अधिक शोध निबन्धों का प्रकाशन । 'जिनवाणी' 'वीर-उपासिका' के सम्पादक एवं 'स्वाध्याय शिक्षा' 'स्वाध्याय संदेश' 'राजस्थानी-गंगा', 'वैचारिकी' के सम्पादक मंडल के सदस्य । अ. भा. जैन विद्वत् परिषद के महामंत्री । अ. भा. जैन पत्रकार परिषद के केन्द्रीय कार्य समिति के सदस्य ।

श्रेष्ठ वक्ता, कुशल लेखक, सिद्धहस्त शब्द शास्त्री ।

वर्तमान में आप राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी के वरिष्ठ एसोशिएट प्रोफेसर एवं हिन्दी प्राध्यापक समिति के संयोजक हैं ।

३. प्रतिक्रमण : वास्तविक ध्यान वस्तुतः अपने स्वभाव में होना है, अपनी पहचान करना है । यह पहचान जब तक मन बहिर्मुख बना रहता है । तब तक नहीं होती । बहिर्मुख मन ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों की भी स्खलना करता है, विभाग में भटकता रहता है, नैतिक नियमों का अतिक्रमण करता रहता है । इस बहिर्मुख मन को अन्तुर्मख बनाने की साधना, ध्यान की प्रथम सीढ़ी/अवस्था है । मन बाहर से भीतर की ओर प्रवेश करे, यही प्रतिक्रमण है । इससे मन की सफाई होती है, साथ ही अशुभ विचारों का कचरा हटता है ।

प्रतिक्रमण साधक के लिए आवश्यक क्रिया है, कर्तव्य है । दिन में हुए अपने कर्मों पर सम्यक् चिन्तन करना दिन का प्रतिक्रमण है और रात में हुए कार्यों पर चिन्तन करना रात का प्रतिक्रमण है । जिसकी वृत्ति जितनी सरल होती है, वह तुरन्त अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लेता है । यदि प्रतिदिन - प्रति रात पापों का प्रायश्चित्त/परिष्कार न हो सके तो पाक्षिक प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये । यदि पक्ष भटके अर्थात् १५ दिन के पापों का प्रायश्चित्त/परिष्कार भी न हो सके तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण इस दृष्टि से अपना विशेष साधनात्मक महत्व रखते हैं और यदि इतने पर भी मन की गांठें पूरी तरह न खुलें तो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के साथ दोषों को न दोहराने का संकल्प आवश्यक है । यदि दोष दोहराये जाते रहें और प्रतिक्रमण की प्रक्रिया चलती रहे तो समझना चाहिये कि साधना यांत्रिक हो गयी है । उसकी हार्दिकता गायब, हो गयी है । ऐसी प्रतिक्रमण-प्रक्रिया जीवन में रूपान्तरण नहीं ला पाती ।

जिसे हम प्रतिक्रमण कहते हैं, शास्त्रीय भाषा में उसे आवश्यक कहा गया है, जिसके छः प्रकार हैं :-

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव
३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण
५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान

सामायिक समताभाव की साधना है । इसमें प्राणिमात्र के प्रति मैत्री और प्रेमभाव दर्शाते हुए हिंसाकारी प्रवृत्तियों से बचने का संकल्प किया जाता है । चतुर्विंशतिस्तव में उन २४ तीर्थंकरों

देव गुरू धर्म की, भक्ति सदा दिल धार ।
जयन्तसेन पवित्र हो, जीवन पथ संसार ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्मरण-ध्यान किया जाता है, जिन्होंने समस्त विषय-विकारों पर विजय प्राप्त कर अपनी आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास कर लिया है। वन्दन में अरिहन्त-सिद्ध रूप देव एवं आचार्य, उपाध्याय, साधुरूप गुरु को वन्दन कर अहम् से मुक्त होने का उपक्रम किया जाता है। प्रतिक्रमण में ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों की परिपालना में जो स्खलना हो जाती है, उनका चिन्तन कर उन्हें निःसत्व करने का तथा उन दोषों की पुनरावृत्ति न करने का ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग में शरीर जन्य ममता से हटने और आत्मा के सम्मुख होने का चिन्तन-मनन किया जाता है। प्रत्याख्यान में साधना मार्ग में आगे बढ़ने के लिए विशेष संकल्प-नियम लिये जाते हैं, जिससे आत्म-शक्ति अधिकाधिक पुष्ट हो और धर्म-धारणा सुदृढ़ बने।

वर्तमान धर्म-साधना में यद्यपि ध्यान-धारणा की कोई व्यस्थित परिपाटी अविच्छिन्न रूप से चली आती हुई नहीं दिखाई देती पर प्रतिक्रमण की परिपाटी आज भी जीवित है। प्रतिक्रमण का जो रूप आज प्रचलित है, वह प्रतिक्रमण के पाठों को दोहराने तक ही सीमित रह गया है। उसका ध्यान तत्त्व गायब हो गया है। पाठों को दोहराने मात्र से मन की सफाई नहीं होती। उसके लिए शान्ति, स्थिरता और अनुप्रेक्षा आवश्यक है। आज का प्रतिक्रमण ध्यान न होकर ध्यान की परिपाटी/तैयारी मात्र है।

४. स्व-संवेदन - प्रतिक्रमण जब तैयारी से आगे बढ़ता है, अपनी अन्तर्यात्रा आरंभ करता है तभी स्व-संवेदन हो पाता है। जब तक इन्द्रियां और मन बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी नहीं बनते, स्व-संवेदन नहीं हो पाता। पंच भौतिक तत्त्वों से बना हुआ जैसे बाहरी संसार है वैसे ही हमारा देह पिण्ड भी है। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के तत्व की व्यापकता, जल तत्व की तरलता, अग्नि तत्व की उष्णता, वायु तत्व की सजीवता और आकाश तत्व की असीमता की भावना कर वह जड़-चेतन को अनुभूति के स्तर पर समझने लगता है, देखने और परखने लगता है। उनके प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष न कर समता भाव में रहने-रमण करने का अभ्यास करने लगता है।

सम्यक्त्व-बोध, व्रत-ग्रहण, प्रतिक्रमण और स्व-संवेदन होने पर ही धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान सध पाता है। ये दोनों ध्यान वास्तविक अर्थ में शुभ और प्रशस्त ध्यान हैं। जब साधक इस ध्यान साधना में गहरा उतरता है, तब उसकी प्रभावानुभुति निम्न रूपों में प्रकट होती है -

१. विचार-विशुद्धि २. विषय - निवृत्ति ३. कषाय - मुक्ति
४. परमात्म - सिद्धि -

१. विचार-विशुद्धि - ध्यान किसी एक वस्तु पर मन को टिकाना मात्र नहीं है। मन में उठने वाले विचार व्यक्ति को दुःखी न करें, व्याकुल न बनायें, क्रूर और कठोर न बनायें बल्कि विचारों में इतनी पवित्रता और निर्मलता आये कि प्राणिमात्र के प्रति प्रेम का, मैत्री का आत्मीय संबंध जुड़ जाए। यही धर्म-ध्यान है। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या पंथ नहीं है। धर्म है - आत्म-स्वभाव, कुदरत का नियम, उन गुणों और शक्तियों का धारण, जिसके कारण जगत में शांति और समता बनी रहे।

जैन आगमों में धर्म-ध्यान के ४ प्रकार बताये हैं - १. आज्ञा -विचय २. अपाय विचय ३. विपाक विचय और ४. संस्थान विचय। विचय का अर्थ है - विचार करना, जागतिक पदार्थों से, सांसारिक प्रपंचों से मन को हटाकर आत्म-स्वभाव में मन को लगाना, आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों की खोज करना। आज्ञा विचय का अर्थ है - आप्त पुरुषों, आगम-प्रमाणों और "जिन" वचनों के आदेशों को अनिवार्य रूप से आचरण में उतारना, उनके अन्तस् में डूबना। अपाय का अर्थ है - दोष, पाप। समस्त दुःखों, पापों से मुक्त होने के लिए अशुभ संकल्प-विकल्पों को त्याग कर शुभ भावों में प्रवृत्ति करना, विचरण करना अपाय विचय है। संसार में जो सुख-दुख आते-जाते हैं, उनका कारण स्वयं के अच्छे-बुरे कर्म हैं। इन कर्मों की विपाक-प्रक्रिया का चिन्तन कर, राग-द्वेष रूप कर्म बीजों को नष्ट करने में पुरुषार्थ करना विपाक विचय है। कर्म विपाक का चिन्तन करते - २, लोक के स्वरूप को देखते-देखते अपनी आत्मा में संस्थापित होना, ठहरना संस्थान विचय है।

जब मन आर्त्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म-ध्यान में लीन होता है, तब जो लक्षण प्रकट होने लगते हैं, उन्हें रुचि कहा गया है। जैन आगमों मे आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ़रुचि के रूप में धर्म-ध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं। रुचि का अर्थ है - चमक, शोभा, प्रकाश-किरण। जब साधक के मन में शुभ-विचारों की लहर चलती है, तब उसका प्रभाव प्रकाश रूप में प्रकट होता है। धर्म की आज्ञा सत्य की आज्ञा है। सत्य का प्रकाश नैसर्गिक योग्यता और शक्ति को प्रस्फुटित करता है। उससे जो नैसर्गिक नियम हैं, सूत्र हैं उनका स्वतः पालन होने लगता है और धर्म में, सदाचरण में, आत्म-स्वभाव में गहरी पैठ-अवगाहना होने लगती है।

२. विषय-निवृत्ति - विचारों की विशुद्धता से धीरे - २ मन सूक्ष्म होने लगता है। इन्द्रियजन्य जड़ता और भोग के प्रति रही हुई सुख की अभिलाषा से साधक परे होकर आत्म-रमण करने लगता है। उसका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप गुण प्रकट होने लगता है। जैन आगमों में प्रतिपादित धर्म-ध्यान के चार आलम्बन-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय में, आत्म-रमण में सहयोगी बनते हैं। विचार मूर्त्त से अमूर्त्त और स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण करते हैं। साधक, एकत्त्व, अनित्य, अशरण और संसार रूप चार भावनाओं से अनुभावित होकर सांसारिक विषय-वासनाओं से उपरत होने लगता है। उसे अनुभव होता है कि वह आत्म-स्वरूप की दृष्टि से एकाकी है, स्वतंत्र है, स्वाधीन है, पर भावना के स्तर पर प्राणी मात्र के प्रति उसकी एकता है। अपरिचय और अकेलेपन से वह मुक्त है, सबके प्रति एकत्व बोध उसकी अपनी शक्ति है। इन्द्रियों के भोग अनित्य हैं। ये पर के अधीन है, "पर" पर आश्रित हैं। जो इनसे परे हो जाता है, वही संसार से पार हो जाता है। यहाँ कोई किसी को शरण नहीं दे सकता। स्वयं की आत्मा ही, उसका गुण-धर्म ही उसके लिए शरण है। वह अपना नाथ स्वयं है, कोई उसका नाथ नहीं।

मन की विमल विचारणा करे कुटिलता नाश।
जयन्तसेन सरल बनो, पावो पद अविनाश ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार परिवर्तनशील है । संसारी संबंध दूसरों पर आश्रित है । अतः नश्वर हैं, दुःख रूप हैं । ऐसा समझ कर जो सत् है, वही अविनाशी है, उसी का संग सत्संग है । इस प्रकार की भावना भाती रहने से विषय-निवृत्ति सहज बन जाती है और धीरे-२ विकार छूटने लगते हैं ।

३. कषाय-मुक्ति - चित्त की अशुद्धि ही विकार है । जैन दार्शनिकों ने इसे कषाय कहा है । जो आत्म-चेतना को सांसारिक विषयों में कसता है, उसे कलुषित बनाता है, वह कषाय है । मुख्य कषाय राग और द्वेष है । इन्हींका विस्तार-प्रतिफलन क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूपों में होता है । ये विकार मन, वचन और काया रूप प्रवृत्तियों से मिलकर आत्मा की शक्ति को, विशुद्ध चेतना को कुण्ठित और दूषित कर देते हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा चेतना पर छाये हुए कल्मष को हटाया जाता है, दग्ध किया जाता है । आत्मा अपने निज स्वभाव में शुद्ध, शुक्ल, उज्ज्वल रूप में प्रकट हो जाती है । जैन आगमों में शुक्ल ध्यान के चार प्रकार बताये हैं - प्रथकृत्व वितर्क सविचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपत्ति और समुच्छन्न क्रिया निवर्ति । पहले प्रकार में ध्यान- साधक द्रव्य और पर्याय की गुणमूलक विविधता पर चिन्तन करता है । दूसरे प्रकार में वह विविधता में एकता का दर्शन करता है, भेद में अभेद देखता है । कषायों के शान्त होने से क्षमा, निर्लोभता, आर्जव और मृदुता रूप आत्मगुण प्रकट होते हैं । तीसरे प्रकार में मन, वचन योग का विरोध हो जाने पर काय योग के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का अतिसूक्ष्म परिस्पन्द अवशेष रहता है । चौथे प्रकार में चन्द क्षणों में अघाती-वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयुष कर्मों के क्षीण हो जाने से आत्मा जन्म-मरण के भव-प्रपंच से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध, अजर-अमर बन जाती है ।

कषाय-मुक्त होने पर शुक्ल ध्यानी साधक को किसी प्रकार की व्यथा नहीं रहती, वह मोह विजेता बन जाता है । अपने विवेक से आत्मा और देह के भेद को समझकर देहजनित समस्त उपाधियों का त्याग कर देता है । इन लक्षणों को ही अव्यथ, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग कहा है ।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ - अनन्तवर्तित, विपरिणाम, अशुभ मत अपाय - बतायी गई हैं, भव-भ्रमण की अनन्त वर्तुल गतियों का विचार करते २ साधक अपनी वृत्ति को अनन्त में विलीन कर देता है । पदार्थ के परिणमनशील परिणाम पर विचार करते-२ वह सुख दुःख के परिणामों से ऊपर उठ जाता है । सांसारिक अशुभ दशा पर विचार करते - २ वह समस्त दोषों से मुक्त होकर परम सिद्ध बन जाता है ।

४. परमात्म-सिद्धि - शुद्ध ध्यान के प्रभाव से जब आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा की समस्त शक्तियाँ प्रस्फुटित हो जाती हैं । आत्मा परम-आत्मा बन जाती है । यही उसकी जीवन-मुक्त अवस्था है । यही उसका भाव मोक्ष है । यही उसका केवल ज्ञान है । यही उसकी समाधि प्राप्त दशा है । यही वीतरागता और स्थितप्रज्ञता है । इस दशा में मन, वचन और काया का योग रहते हुए भी कर्म-बन्ध नहीं होता । इसे जैन आगमों में ''जयणा'' कहा है । हम इसे जागरूकता कह सकते हैं । जो ध्यान-साधक इस जागरूक अवस्था में रहता है, वह अप्रमत्त रहता है । अन्तराय कर्म क्षीण हो जाने से वह अनन्त औदार्य, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त सामर्थ्य का धनी होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन आगमों में प्रतिपादित ध्यान-साधना का स्वरूप सांसारिक वैभव, विभूति या लब्धि प्राप्ति के लिए नहीं है । उसका मुख्य लक्ष्य कषाय-मुक्ति है, राग-द्वेष से छूटना है ।

एस मग्गे आरिएहि पवेइए का शेष भाग (पृष्ठ ९ से)

सुरक्षा नहीं देते । जहाँ महावीर लोक परलोक के लिए आदर्शों का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसका निषेध भी करके कहते हैं - ''नो इह लोगट्ठाए, नो परलोगट्ठाए'' - यह न केवल इस लोक की साधना और न केवल परलोक की । मेरे विचार से जैन साधना लोकातीत साधना है लोक, परलोक और लोकातीत तीनों की । महावीर, क्रांतदर्शी थे तो शांतदर्शी भी । आचाराङ्ग के लोकाचार की ५९ वीं गाथा अहिंसा, मैत्री, कारुण्य का अक्षय स्रोत है । मनुष्य का अन्तर और बाह्य एक होना चाहिए - ''जहाँ अंतो बहा बाहि, जहां बाहि तहा अंतो'' । उत्तराध्ययन के प्रथम दो तीन अध्ययनों में वे नैतिक आदर्शों का पूर्णरूपेण प्रतिपादन करते हैं । महावीर दुर्बलता और दीनता के समर्थक नहीं थे । निराशा और हताशा उन्हें अमान्य थी । उनका आदेश है अल्पभाषी बनो, किए को किया कहो और न किए को न किया, स्व या पर किसी पर क्रोध न करो - अपनी त्रुटि स्वीकार कर प्रायश्चित्त करो, वृथा संभाषण उचित नहीं, पर-दोष देखना पाप है । विनय और नम्रता, संयम और विवेक, सत्य और समता चारित्रिक उत्कर्ष के लिए अनिवार्य है अहिंसात्मक जीवन इनका मूल है - मनुष्य की आत्मोपलब्धि शब्दातीत है, वहाँ तर्क नहीं, बुद्धि भी नहीं, कर्मफल से शून्य परम चैतन्य ही वह दशा है । यही तो उपनिषद् ने भी कहा था - ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' - जीवन के अन्तर्बाह्य संघर्ष को जीतकर उपसर्ग और परीषह सहकर व्यक्ति मेरु के समान अकंपित और सागर के समान गंभीर बनता है । ''मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खो भा सागरुत्व गंभीरा ।'' यही आर्यों द्वारा कहा गया पथ है - ''एस मग्गे आरिएहि पवेइए ।''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org